सम्पादकीय .....

सिसकती सुबकती यह भव्यात्मा चतुर्गति के कारागृह में संत्रास दु:खों से जर्जरित हुई शान्ति की खोज में निमग्न है। "**कोटि जीभतै जात न भनै**" एक साथ करोड़ों जिह्वायें दु:ख वेदना की कथा का उत्कलन करने लग जाएँ, तो भी उस अपार दु:ख का एक अंश भी वर्णन नहीं कर पाएँगी।

जब उन दु:खों का स्मरण मात्र ही हमारे रोएँ-रोएँ को कंपित कर देता है, तब उन दु:खों के वेदन ने हमारी क्या गत बनाई होगी? इस का हम अनुमान ही नहीं लगा सकते।

विना कारण के कोई कार्य हो ही नहीं सकता। क्या कारण है कि हम सम्राटों को, त्रैलोक्याधिपतियों को दर-दर का भिखारी बन कर जीना पड़ रहा है? क्यों हम दु:खों की ज्वालाओं से दग्धायमान हो रहे हैं? क्यों हम पंच परावर्तन के भटकाव से क्लान्त हो रहे हैं? जब हमारा स्वरूप भी सिद्धों के समान है, तो क्यों हमें अनन्त सुख का आस्वादन करने का मौका नहीं मिल रहा है?

"**मोह महामद पियो अनादि, भूल आप को भरमत वादि**"। अनादिकाल से मोह रूपी महामद को पी कर यह जीव स्व-स्वरूप से विभ्रमित हुआ, परभावों की शृंखला में ऐसा फँस गया कि भटक गया निजानुभूति से! अपने घर को छोड़ कर परभावों की गलियों में घूमना, यही कारण है संसार का!

यद्यपि कई बार हमने मनुष्य पर्याय को पाया था, किन्तु इस पर्याय का उपयोग हम अपनी सुप्तशक्ति को पुन: उद्घाटित करने में नहीं कर सके थे। यह मूढ़ात्मा अध्यवसायों के कारण संसार में सदा विषयासक्त रही। भौतिकता की चकाचौंध में मस्त रही, व्यस्त रही और यही कारण है कि वह दु:खों से सन्त्रस्त रही।

आज हमें पुन: यह अनमोल रत्न उपलब्ध हुआ है, क्यों न हम आत्मिक गुणों का विकास करें? ज्ञान-आराधना, वैराग्य-साधना व चरित्र-उपासना हेतु क्यों न हम अपनी मानसिकता बनायें? क्यों न हम स्व-स्वरूप को ध्याएँ? आत्मोपासना का लक्ष्य दृढ़ बनाने के लिए साधन बन कर प्रस्तुत है यह कृति।

इस पुस्तक में गति का प्रस्तुतीकरण तिर्यंच, नरक, देव व मनुष्य इस क्रम से किया है। चारों गतियों के दु:खों का वर्णन कर उन पर्यायों को कैसे खोया – इस का विस्तृत वर्णन है। ''यूँ ही खोया'' में संकलित प. पू. आचार्य 108 श्री सन्मतिसागर जी महाराज का प्रवचनांश इस कृति में ज्यों का त्यों उद्धृत किया है। आगम पद्धति का पुस्तक में पूर्ण ध्यान रखा गया है।

मुनिश्री ओजस्वी तथा प्रखर वक्ता हैं, धर्मसभा के मनोमन्दिर में वैराग्य व ज्ञान के बीज बोने में निष्णात हैं। उन के प्रवचन में आगम का स्रोत ही बहता है। जब भी बोलते हैं तो निडरता से निष्पक्ष हो कर बोलते हैं। प्रस्तुत कृति आप को उन के ज्ञान व निष्पक्षता का दर्शन कराएगी ही।

वीर प्रभु से यही प्रार्थना है कि :- **''हम सब के दिशादर्शक श्री गुरुदेव की साधना दिन-ब-दिन वृद्धिंगत होती रहे।''**

मुनिश्री सदा ही सदुपदेश द्वारा हमारा मार्ग प्रशस्त करते रहें, बस हम तो यही भावना भाते हैं।

अन्त में मेरी सहयोगिनी संघस्थ आर्यिकाओं की मैं सतत् ऋणी रहूँगी, क्योंकि उन्होंने इस पुस्तक से सम्बन्धित नाना प्रकार के मार्गदर्शन मुझे दिये हैं।

सुविधि ज्ञान चन्द्रिका प्रकाशन संस्था का यह स्तुत्य प्रयास है कि वह मुनिश्री के वचन घर-घर पहुँचाने का पुण्यकार्य कर रही है। संस्था के सभी सदस्यों को व समस्त द्रव्यदाताओं को मेरा आशीर्वाद।

आओ! अब पुस्तक पढ़ें।

आर्यिका सुविधिमती

कैद में फँसी है आत्मा

भावी शुद्ध परमात्माओं!

आज का विषय मैं एक कथा के माध्यम से प्रारम्भ करूँगा।

एक बार एक भक्त अपने आराध्य देवता की आराधना में निमग्न था। आँखें बन्द कर के वह स्तोत्र-गान कर रहा था, उस के आराध्य थे **गणपति**। जैनागमानुसार गणपति शब्द का अर्थ है, आचार्य। **गणानामधिपति सः गणपति**, जो गण का अर्थात् मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका, इस चतुर्विध संघ का अधिपति अर्थात् नायक हो, वह गणपति है।

वह आदमी संघपति आचार्य की भक्ति नहीं कर रहा था, उस के आराध्य थे शंकर जी के पुत्र **गणेश जी**। वह अपनी सारी मनोकामनाएँ व्यक्त करता जा रहा था। उस की आँखें अचानक उन्मीलित हुई, और .... उस ने देखा, भगवान का नैवेद्य चूहा ले जा रहा है। भक्ति बंद हो गई और चिन्तन शुरू हो गया। उस ने सोचा कि जो भगवान अपने नैवेद्य की रक्षा नहीं कर सकते, वे मेरी क्या रक्षा कर सकेंगे? वस्तुतः भगवान तो चूहा है, उस ने चूहे को पकड़ कर पिंजरे में बन्द कर दिया व उस की उपासना करने लगा।

बन्धुओं! यह है हमारी आस्था का चित्रण। इतना क्षणिक है हमारा श्रद्धान। 6/8 माह तक हमारे कार्य को देख कर हमें आजीवन के लिए नौकरी पर रखा जाता है। 8/10 वर्ष की निरन्तर सेवा-सुश्रूषा के उपरान्त हमें वृक्ष से सुमधुर फल प्राप्त होते हैं। दूध में जामन डालने के बाद 6/8 घण्टे दही की प्राप्ति हेतु इन्तजार करना पड़ता है और हम कर लेते हैं किन्तु धर्म मार्ग में अधीर हो उठता है मन, इसलिए चंचलता का उद्भव होता है।

कई दिनों तक उस ने चूहे की पूजा की किन्तु परतन्त्रता कौन चाहे? क्योंकि "**पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं**"। पूजा-अर्चना जैसे महानुष्ठान भी परतंत्रता के कारण चूहे के लिये सुखकर नहीं थे। एक दिन मौका हाथ लग गया, चूहा पिंजरे से भाग निकला, किन्तु कहते हैं कि "**भवितव्या बलवती**" -- होनी दुर्निवार है। चूहा पिंजरे से ज्यों ही बाहर आया त्यों ही बिल्ली उस पर झपट पड़ी। भक्त यह दृश्य देख रहा था।

उस ने सोचा कि निर्बल चूहा भगवान नहीं हो सकता। भगवान तो बिल्ली है। उस ने बिल्ली का पालन-पोषण शुरू किया।

कहा भी है :- "**स्वभावो [illegible] धार्यते**" - स्वभाव में परिवर्तन नहीं आ सकता है। चाहे आप सर्प को कितना भी अमृततुल्य दूध पिलाते रहो, वह जहर ही छोड़ेगा। तादृश बिल्ली का स्वभाव है चोरी करना।

एक दिन बिल्ली चोरी-चोरी दूध पी रही थी, भक्त की पत्नी ने देखा। उसे बहुत गुस्सा आया। उसी आवेश में उस ने बेलन फेंक कर मारा। भक्त ने यह दृश्य देख कर सोचा कि मैं कितना मूर्ख हूँ? भगवान मेरे घर में बैठा है, और मैं समूचे विश्व में उस की खोज करता फिर रहा हूँ। उसी दिन से वह पत्नी की पूजा करने लगा। वैसे कोई गृहस्थ इस पूजा से वंचित नहीं रह पाता है (हँसी), इसलिए लिखा है :-

नहीं वह कौशल्या का राम, नहीं वह देवकी का श्याम।
आज का जो भी है मानव, वह है बीबी का गुलाम॥

कुछ दिन और गुजर गये। एक दिन किसी बात से दोनों में भारी विवाद हुआ। पत्नी के अपशब्द के प्रयोग से क्रोधित हुए उस भक्त ने पत्नी को जोर से एक चाँटा मार दिया और ....। एकाएक होश में आ गया। वह चिन्तन करने लगा कि मेरी बुद्धि कितनी विभ्रमित थी, जो मैं, पर की ही पूजा करता रहा, निज की शक्ति को आज तक मैंने नहीं जाना। न जाने कितने साल मैं दूसरों की पूजा करता रहा? कभी गणपति की, तो कभी चूहे की, कभी बिल्ली की, तो कभी पत्नी की, परन्तु आज तक एक बार भी मैंने अपनी पूजा, आराधना या उपासना नहीं की।

भव्यो! निजात्मा की दशा भी तो ऐसी ही है। सारे संसार को एक नहीं अनेकों बार देखा, सुना, अनुभव किया, किन्तु निज चैतन्य आत्मद्रव्य का हमें भान ही नहीं हुआ। स्व की क्या दशा हो रही है? पता ही नहीं है। परद्रव्य के भोगोपभोग में ही व्यस्त है, मस्त है। सदा ही उस की दौड़ भोगपथ पर हो रही है। योगों से दूर-सुदूर प्रदेशों की आँधी यात्राएँ जारी हैं। कभी इस जीव ने अंतर्मुख हो कर चिंतन किया ही नहीं ना! सारे संसार पर अनुशासन करने की आकांक्षा संजोये रखी इसी मर्कट मन ने, किन्तु क्या आज तक कभी निज पर अनुशासन कर पाया है? इष्टानिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष कर के कर्मसंचय करता रहा और दुःख पाता रहा। यही एक कारण है कि यह

जीव अनादिकाल से कर्म मल द्वारा मलिन हो कर संसार परिभ्रमण कर रहा है।

संसार का अर्थ है – "संसरणमिति संसार:" – संसरण करना, परिभ्रमण करना या घूमना। दिगम्बर जैनाचार्यों ने जीव के दो भेद किए हैं, पहला संसारी व दूसरा मुक्त।

जिसने पंचपरिवर्तन की शृंखला को नष्ट–भ्रष्ट कर दिया है, जो भवोदधि से पार हो चुका है, दु:ख से छूट चुका है, जो कर्मबंधन से उन्मुक्त हो चुका है, जिसे न जन्म है, न मरण है, न इंद्रियसुख है, न दु:ख, जो लोकाग्र शिखर पर विराजित है, अपनी आत्मा के आस्वादन में रममाण है, वह है मुक्त जीव। यह आत्मा की शुद्ध अवस्था का नाम है।

संसारी जीव वह है, जो सदैव संसार में रहता है। अष्टकर्मों का जाल जिस को पकड़ चुका है, आहार, भय, मैथुन व परिग्रह इन चारों संज्ञाओं से जो विभूषित है, कर्म–कालिमा से जो कलुषित है और जो अनादिकाल से 84 लाख योनियों की प्रदक्षिणा दे रहा है, संसारी जीव है वह।

आज मैं आप को आपकी दु:ख–गाथा सुना रहा हूँ। हो सकता है कि आप को विश्वास न हो पाए कि ऐसी भयानकता हमारे साथ हुई है, किन्तु मैं काल्पनिकता का प्रदर्शन नहीं कर रहा हूँ। आप का मन नहीं मानेगा कि आप ने इस भव से पूर्व निकृष्टातिनिकृष्ट पर्यायों में अनन्त दु:खों का अनुभव किया है, आप इन बातों पर जरूर तर्क उठाओगे।

स्मरण रहे "नान्यथावदिनो जिना:" भगवान जिनेन्द्र देव अन्यथावादी यानि असत्यभाषी नहीं होते। आप के तर्क आप को सांत्वना देंगे इस परिस्थिति को झुठलाकर, किन्तु लाभ कुछ भी नहीं होगा। सत्य सत्य ही रहेगा। असत्य की आँधियाँ सत्य के दीपक को बुझा नहीं पायेंगी। असत्य की राख सत्य के ज्वलित अंगारों को दबा नहीं सकती। इस जिनवाणी के द्वारा कथित चतुर्गति के दु:खों में कण मात्र भी असत्यता नहीं है।

यह प्रश्न उठ सकता है अन्तर्मन में, कि क्या आवश्यकता है जो भूतकाल के दु:खों को प्रकट किया जा रहा है? भगवान महावीर ने कहा, पहले भूतकाल को

जानो, भूतकाल की गलतियाँ आप को ज्ञात होंगी तो आप उन गलतियों को दूर करने का प्रयास करोगे। चतुर्गति के परिभ्रमण में कारणभूत अज्ञानादि के दुष्फलों का कथन आप को ज्ञानमार्ग की ओर अग्रसर होने में सहयोगी बनेगा।

उन दु:खों को सुनने पर आप का मन भय से आपूरित हो जायेगा। आप चाहोगे कि अब ऐसे दु:ख आप को फिर सहने न पड़ें, आप के मन में जिज्ञासा का निर्माण होगा कि ऐसा कौन-सा स्थान है, जहाँ दु:ख का नाम लेश भी नहीं है? उस स्थान पर जाने का मार्ग कौन-सा है? यही जिज्ञासा आप को मोक्ष-मार्ग पर दृढ़ बनाएगी।

उन दु:खों का स्मरण आप को संसार में मस्त नहीं होने देगा, संसार में रह कर भी आप सांसारिक भोगोपभोगों में मग्न नहीं हो पाओगे, तुम्हारा मन तुम्हें कचोटेगा, सुप्त अवस्था में तुम जी नहीं सकोगे, कषाय और प्रमाद तुम्हें लोरियाँ सुना कर गाफिल करने के लिए नहीं आ पाएंगे। आप जागे रहोगे सदा। जागृत अवस्था का नाम ही वैराग्य है। कुन्द-कुन्द देव ने समयसार में लिखा है :- "**सम्यग्दृष्टि का भोग निर्जरा का कारण है।**" इस में कोई भूल नहीं है, आचार्य देव की, क्योंकि अमृतचन्द्राचार्य ने प्रमाण-पत्र दिया है सम्यग्दृष्टि को "**सम्यग्दृष्टिर्भवति नियतं ज्ञान वैराग्य शक्तिः**"।

सम्यग्दृष्टि में ज्ञान व वैराग्य की शक्ति होती है। संवेग गुणधारी भव्यात्मा संसार में रच-पच नहीं सकेगी।

वैराग्य की अभिवृद्धि के लिए आवश्यक है कि आप संसार के दु:खों को आँखों से ओझल न होने दें, जिन्हें कि आप भव भवान्तर में सहते आये हैं।

तो आओ, सुनो सब अपनी आत्म कहानी॥

तिर्यंच गति के दु:ख

तिरियंति कुडिल भावं सुवियडसण्णा णिगिट्ठमण्णाणा।
अच्चंत पाव बहुला तम्हा तेरिच्छया णाम॥ **(धवला पुस्तक 1 - पृष्ठ 203)**

जो कुटिलता को प्राप्त हैं, जिन की चारों संज्ञाएँ व्यक्त हैं, जो निकृष्ट अज्ञानी हैं, जिन में पाप की बहुलता है, वे तिर्यंच हैं।

इस जीव की जीवन-कथा का प्रारम्भ नित्यनिगोद पर्याय से होता है। निगोद का

अर्थ है "**अनन्त जीवेभ्य: नियतां गां ददाति इति निगोद:**" अनन्त जीवों का जहाँ एक ही आधार है, एक साथ जो जन्म-मरणादि करते हैं, वे जीव निगोदिया जीव हैं। निगोदिया जीव के दो भेद हैं। जिस जीव ने अनादिकाल से आज तक कभी निगोद पर्याय को छोड़ कर अन्य पर्याय नहीं पाई, वे नित्य निगोदिया कहलाते हैं तथा जिन्होंने निगोद-पर्याय त्याग कर अन्य पर्याय तो पाई थी किन्तु फिर घोर पापोदय से निगोद गए, वे इतर निगोदिया जीव हैं। इस जीव ने अपनी यात्रा का प्रारम्भ उस निगोद पर्याय से किया है। वहाँ एक श्वास में अठारह बार जन्म व अठारह बार मरण करता रहा। सोचने जैसी बात है कि 70 या 80 वर्ष के बाद मरने के सन्मुख पहुँचा मनुष्य मौत का आमन्त्रण सुन कर घबरा जाता है, उस के पंजे से बचने के लिए डॉक्टरों की शरण में व औषधियों के चरण में पहुँच जाता है। वह निगोदिया जीव कैसे सह पाता होगा, यह मरण का दु:ख? मरण संसार का सब से बड़ा दु:ख माना जाता है। एक ऐसा दु:ख जिस का वर्णन करने के लिए यदि संसार के समस्त कागज तथा समस्त स्याही का उपयोग भी कर लिया जाय तब भी इस दु:ख का वर्णन पूरा नहीं होगा। एक बार की मृत्यु भी जब अनन्त वेदना का कारण है, तो एक श्वास में अठारह बार मरण करने वाले जीवों के दु:ख की कल्पना ही असंभव है। या तो भुक्तभोगी जाने या फिर सर्वज्ञ।

उस के दु:खों की कल्पना आप उस पुरुष से कर सकते हैं जिस के हाथ पैर रस्सी के द्वारा कस दिये गए हैं, मुँह में कपड़ा ठूंस दिया गया है, जिस से वह बोल भी नहीं सके। गले में रस्सी का फन्दा डाल कर वृक्ष पर लटका दिया गया है, ऊपर से उस की नंगी पीठ पर नमक का पानी छींट कर कोड़े लगाए जा रहे हैं। वह अपने दु:खों को व्यक्त नहीं कर पाएगा, उसी तरह निगोदिया के दु:ख वह जीव व्यक्त नहीं कर सकता। निगोदिया जीव यानि साधारण वनस्पतिकायिक जीव। यह जीव पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, आहारक ऋद्धिधारी मुनि, देव, नारकी, वायुकायिक और अरिहन्त, इन के शरीरों पर नहीं पाए जाते। ये 8 शरीर छोड़े, तो संसार का एक भी स्थान ऐसा नहीं बचा है, जहाँ वे न रहते हों। लोकाकाश में वे ठसाठस भरे हुए हैं। एक राई जितना सूक्ष्म स्थान भी नहीं मिलेगा, जहाँ निगोदिया न हो।

अत्यन्त भाव कलंक, प्रचण्ड दुर्लेश्या रूप, संक्लेश परिणामों की प्रचुरता से कई जीव ऐसे हैं जिन्होंने आज तक एक बार भी उस पर्याय को नहीं छोड़ा है न आगे छोड़ पाएंगे।

भाड़ भूंजते हुए एकाध दाना कदाचित् कड़ाही के बाहर आ जाता है न! ठीक उसी तरह क्लेश समुदाय को सहते-सहते भाग्योदय से यह जीव उस अवस्था से निकल कर पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक या प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव बन जाता है। जब यह जीव पृथ्वीकायिक बना तो इस ने नानाविध कष्ट उठाए। मिट्टी को लोग खोदते हैं, जलाते हैं, रौंदते हैं, कूटते हैं, धूप की ताप से वे जीव मरते हैं। भागने में असमर्थ ये जीव पराधीन पने के दु:खों से सदैव सन्तप्त होते हैं।

एक चने के दाने बराबर मिट्टी में अनन्त पृथ्वीकायिक जीव रहते हैं, वैसे ही एक बून्द पानी में भी अनन्त जलकायिक जीव रहते हैं। आज का विज्ञान भी यह कहता है कि एक बून्द पानी में 36450 जीव रहते हैं। इस पर्याय को पाए जीव रौंदे गए, फेंके गए, जलाए गए।

कभी यह जीव अग्निकायिक बना तो हवा के द्वारा हिलाए जाना, पानी या मिट्टी के द्वारा बुझाए जाना, लोहे से निकलते हुए स्फुलिंगों को घन की चोटों से पीटा जाना आदि क्रियाओं से कष्ट सहता रहा। वायुकायिक जीव बना तो दीवारादिक के टक्कर से, गर्मी के झोंकों से, पंखों से, तीव्र जलवृष्टि से इस ने अनेक दु:ख सहे। वनस्पतिकायिक अवस्था में छेदन-भेदन, अग्नि द्वारा जलाया जाना आदि अनेक तरह के दु:खों का शिकार बना। इस तरह अनन्त काल बीत गया, स्थावर पर्याय में।

कर्मों में कुछ परिवर्तन हुआ, आत्मा के लिए अभ्युत्थान का एक क्षणिक अवसर प्राप्त हुआ, फलत: यह जीव विकलत्रय पर्याय को प्राप्त हुआ। बड़ा ही कठिन कार्य है स्थावर पर्याय से त्रस पर्याय पाना। पण्डित दौलतराम जी ने लिखा है कि चिन्तामणि रत्न पाना जितना कठिन है, उतनी ही कठिनता होती है स्थावर से त्रस पर्याय पाने में। यह जीव विकलत्रय अर्थात् दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय जीव बना। ये जीव हवा, पानी, आग आदि के माध्यम से दु:ख पाते हैं, गाड़ी या मनुष्य के पैरों के नीचे आ कर मरते हैं। इन्हें मानव की क्रूरता के कारण भी अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ती है। जैसे – मधुमक्खी के छत्तों को आग लगा देना, रेशम के कीड़ों को खौलते हुए पानी में डालना, अनाज के अन्दर पाए जाने वाले कीड़ों या सिर में पाए जाने वाले कीड़ों को धूप में फेंक देना। वे जीव तड़प-तड़प कर मर जाते हैं।

कभी असंज्ञी पंचेन्द्रिय बना। परन्तु वहाँ क्या किया? मन नहीं था, हिताहित को समझने की शक्ति नहीं थी। क्या करे? बेचारा मौत की ओर प्रयाण करते-करते ही अपनी जीवनलीला पूर्ण कर गया।

दैववशात् इसे संज्ञी पंचेन्द्रिय अवस्था प्राप्त हुई। यहाँ जीव विवेकहीन बना रहा। जिस माता के उदर से उस ने जन्म लिया, उसी माता के शरीर से वह अपनी वासनापूर्ति करने लगा। बलवान बना तो निर्बलों को खाता रहा और निर्बल बना तो बलवानों का भक्ष्य बनता रहा।

पंचेन्द्रिय तिर्यंच के दुःख हम प्रत्यक्ष ही देखते हैं। आज कितने वन्य प्राणी मारे जाते हैं, साल भर में? उन प्राणियों की हड्डी द्वारा, मांस द्वारा, चर्बी द्वारा, अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में प्रतिवर्ष 250 करोड़ रुपयों का धंधा हो रहा है। आज निरीह पशुओं का भक्षण हो रहा है, प्रतिदिन लाखों प्राणियों को मानव के प्रसाधन के हेतु मौत के घाट उतार दिया जा रहा है।

धिक्कार हो इस दुष्ट पर्याय को! एक माँ अपने पुत्र के प्राणों की शत्रु बन जाती है। यदि तीव्र भूख लगे तो सांप, कुतिया या बिल्ली अपने ही बालक को खा कर क्षुधाशमन करती है।

छेदा जाना, भेदा जाना, भूख-प्यास सहन करना, प्रमाणातीत भार वहन करना, ठण्डी-गर्मी के आवेश को सहना, बन्धन को प्राप्त होना, एक न दो, अनेकविध दुःखों को वह मूक पशु सहता है, जिस का वर्णन करना असम्भव है।

नरक गति के दुःख

ण रमंति जदो णिच्चं, दव्वे खेत्ते य काले भावे य।
अण्णोण्णेहि य जम्हा तम्हा ते णारया भणिया॥

(धवला पुस्तक 1 – पृ. 203)

जिस किसी भी कारण से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से जो स्वयं में व परस्पर में कभी रमते नहीं हैं, वे नारत कहलाते हैं।

अन्य ऋषि-महर्षि भी लिखते हैं कि "**हिंसादिष्वदनुष्ठानेषु व्यापृता: निरतास्तेषां गति निरतगतिः अथवा नरान् प्राणिनः कायति खलीकरोति इति नरकः अथवा**

निर्गतोऽयः पुण्यं एभ्यस्ते निरयाः तेषां गतिः निरयगतिः।" अर्थात् हिंसादि पापानुष्ठान में जो मग्न हैं, उन की गति को निरतगति (नरकगति) कहते हैं। प्राणियों को जहाँ यातनाएँ दी जाती हैं, पीसा जाता है, वह नरक है, किंवा जिन का पुण्य निर्गत हो चुका है, समाप्त हो चुका है, वे निरय हैं, उन की गति निरय गति यानि नरक गति है।

आचार्य श्री उमास्वामी जी तत्त्वार्थसूत्र में लिखते हैं :-

बह्वारंभ परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः। [6/15]

बहुत आरम्भ तथा बहुत परिग्रह नरक गति का कारण है। साथ ही अति संक्लेशभाव अर्थात् कषायों की तीव्रता, व्यसन, पापानुष्ठान में प्रवीनता, कठोर वचन बोलना, चुगली करना, धन संचय में मग्न रहना, साधु निन्दा करना, नीच बुद्धि रखना, कृतघ्नता धारण करना आदि अनेक कारण नरक गति के हैं।

स्वामी कुमार (कार्तिकेय) कार्तिकेयानुप्रेक्षा में नरक गति के दुःखों को पाँच विभागों में बाँटते हैं। वे कहते हैं :

असुरोदीरिय दुक्खं सारीरं माणसं तहा विविहं।
खित्तुब्भवं च तिव्वं अण्णोण्ण-कयं च पंचविहं॥

अर्थात् - (1) असुर कुमारों द्वारा दिया गया दुःख।
(2) शारीरिक दुःख।
(3) मानसिक दुःख।
(4) क्षेत्रज दुःख। तथा
(5) पारस्परिक दुःख।

ये 5 प्रकार के दुःख नरक में होते हैं।

असुरोदीरित दुःख – उमास्वामी महाराज लिखते हैं :-

संक्लिष्टाऽसुरोदीरित दुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः (3/5) – संक्लिष्ट परिणाम के धारी असुरकुमार देव चतुर्थ नरक से पूर्व अर्थात् तृतीय नरक तक जा कर दुःख देते हैं।

बलभद्र, नारायण व प्रतिनारायणों के समय में प्रत्येक के एक-एक नारद होते हैं। वे जीव विघ्नसंतोषी होते हैं। दो जीवों में वैर बढ़ा कर आनन्द मनाते हैं। नरकों में

अम्बावरिष जाति के असुरकुमार देव पूर्वभव की याद दिला कर उन को लड़ाते हैं। आज भी संसार में अनेक रौद्र ध्यानी जीव ऐसे पाए जाते हैं जो दो बकरों को, मुर्गों को या तीतर आदि को लड़ा कर आनन्दानुभूति करते हैं, उसी तरह ये देव दो नारकियों के मन में विद्वेष की प्रचण्ड भावना भर कर युद्ध करवाते हैं व उन के युद्ध को देख कर आनन्द मनाते हैं।

शारीरिक दु:ख – इन नारकी जीवों में वैक्रियक शरीर पाया जाता है। केवल एक अन्तर्मुहूर्त में अवयव पूर्ण हो जाते हैं। अन्तर्मुहूर्त यानि कितना काल? दो समय से अधिक व अड़तालीस मिनट में एक समय कम इतने काल को अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। इतने अल्प समय में उस के अवयव पूर्ण हो जाते हैं।

नारकी जीवों के उपपादस्थान (जन्म-स्थान) जमीन से ऊपर होते हैं। उन के आकार कुम्भी मुद्गर, मृदंग, धोकनी आदि के समान भयानक होते हैं। जन्म-स्थानों का भीतरी भाग करोंत की धार के समान तीव्र वज्रमय है। नारकी जीव उत्पन्न होने पर नीचे 36 आयुधों के बीच गिरता है व उछलता है। उस की यह उछाल गेंद की तरह होती है। पुन: पुन: उछल कर व गिर कर वह अनेकों कष्ट सहता है। पहले नरक का नारकी सात योजन, छ: हजार पाँच सौ धनुष प्रमाण ऊपर उछलता है। दूसरे नरक तथा आगे-आगे उछलने का यह प्रमाण द्विगुणित-द्विगुणित हो जाता है।

प्राचीन आचार्यों ने लिखा है कि अपने किये हुए तीव्र पापकर्म का कष्ट भोगने के लिए ही यह जीव नरक जाता है। अतएव वहाँ होने वाले दु:खों की हम कल्पना ही नहीं कर सकते।

मनुष्यावस्था में जिस ने शराब व्यसन पाल रखा था, वहाँ जाने पर उसे गर्म लौह रस पिलाया जाता है, पूर्वभव में जो पर स्त्री-सेवन या वेश्या-सेवन करता था, वहाँ उसे तप्त लौह पुतलियों के साथ चिपका दिया जाता है।

तीनों लोकों में जितना भी अनाज उत्पन्न होता है, एक साथ सब खा जाएं तो भूख शमित नहीं होगी, उस को उतनी तीव्र भूख वहाँ लगती है किन्तु एक कण भी नहीं मिलता है। कभी कदाचित् वह दुर्गंधयुक्त जहरीली मिट्टी खा लेता है। समुद्र का पानी भी उसकी तृष्णा को शान्त नहीं कर पाएगा, परन्तु एक भी बून्द नहीं मिलती उसे।

मानसिक दु:ख – नरक में अशुभ लेश्याएँ पाई जाती हैं। राजवार्तिककार

अकलंक देव ने लिखा है कि प्रथम व द्वितीय नरक में कापोत लेश्या होती है। तृतीय में ऊपर कापोत नीचे नील, चौथे में नील, पाँचवें में ऊपर नील नीचे कृष्ण, छठे में कृष्ण व सातवें में परम कृष्ण लेश्या पाई जाती है।

उन के मन में प्रखरता से वैर-विरोध पनपते रहता है जैसे धधकती हुई भट्ठी ही हो। तीव्र कषायों से परिणाम सदैव कलुषित होते रहते हैं। मन में सदा यही भावना चलती रहती है कि मैं दूसरे को कैसे मारूँ? कैसे दुःख दूँ? परिणाम अत्यन्त संक्लेषित बने रहते हैं।

आपसी मित्रता का तो वहाँ नाम ही नहीं है। सभी एक दूसरे के मात्र शत्रु हैं। यहाँ तक कि यहाँ के घनिष्ठ मित्र या परस्पर के प्रिय रिश्तेदार भी वहाँ जा कर परस्पर वैरी हो जाते हैं। परस्पर मार-काट की भावना भी उन के लिए अनन्त दुःख का कारण है।

क्षेत्रज दुःख – जब पाप कर्म का उदय होता है, तब संसार के सारे पदार्थ प्रतिकूल बन जाते हैं। शांति के लिए किए गए कार्य अग्नि में घी फेंकने जैसे सिद्ध होते हैं।

वहाँ की भूमि अत्यन्त जहरीली है। भूमि के स्पर्श से ऐसा दुःख होता है कि उस के आगे हजारों बिच्छू एक साथ काट खाएं तो भी वह दर्द नरक भू के स्पर्श के द्वारा प्राप्त कष्ट से तुच्छ है। उन नरक के बिलों में कुत्ता, बिल्ली, ऊँट आदि के सड़े-गले शरीर की दुर्गंध की अपेक्षा अधिक दुर्गंध है। नरक में कुल 49 पटल हैं। पहले पटल की मिट्टी यहाँ ला कर रख दी जाए तो उस की दुर्गन्ध व जहरीले पन के कारण आधा कोस के भीतर रहने वाले समस्त जीव मृत्यु को प्राप्त हो जाएं। यह जहरीला पन व घातक पना प्रति पटल आधा-आधा कोस बढ़ते जाता है, सप्तम नरक के पटल की मिट्टी का जहरीला पन इतना तीव्र है कि साढ़े चौबीस कोस तक का क्षेत्र निर्जन्तुक बना दे।

पहले नरक में 30 लाख, दूसरे में 25 लाख, तीसरे में 15 लाख, चौथे में 10 लाख, पाँचवे में 3 लाख, छठे में 5 कम एक लाख व सातवें में 5 बिल होते हैं। इस तरह कुल 84 लाख बिल नरक में हैं। उन में से 82 लाख बिलों में उष्णवेदना है व अंतिम 2 लाख बिलों में शीतवेदना है। एक लाख चालीस योजन ऊँचा सुमेरु पर्वत

इतना बड़ा लौह पिण्ड यदि उष्ण नरकों में डाला जाय तो क्षण मात्र में वह गल जाए। नरक में उष्णता की अपेक्षा शीतवेदना और भी अधिक भयंकर है।

उस उष्णता के ताप से बचने के लिए वह जीव शान्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से वैतरणी नदी में कूद पड़ता है, किन्तु पापी को शान्ति कहाँ? वह नदी खून-पीव से भरी हुई व अनेकों कृमी कीटकों से युक्त होती है। उस का पानी अतिशय खारा, दुर्गन्धित है। वे कीटक उस नारकी को भयंकर वेदना देते हैं।

वहाँ से निकला नारकी अपनी घबराहट के शमन करने हेतु वृक्ष के नीचे आ कर बैठता है। वहाँ सेमर नामक वृक्ष है, जिस के पत्ते तलवार की धार के समान अति तीक्ष्ण हैं। नारकी जैसे ही नीचे जाता है तो वे पत्ते उस पर गिर कर उस के अंगों को छिन्न-भिन्न कर देते हैं, कहते हैं न ''नकटी के ब्याह में सौ-सौ विघ्न'' यह नारकी शान्ति पाने के लिए जहाँ भी जाता है, वहाँ कष्ट उठाता है।

पारस्परिक दु:ख – उत्पन्न होने के तुरन्त बाद गेंद सदृश उछल-कूद कर अधम दशा को प्राप्त हो वह नीचे गिरता है तो नवीन नारकी को देखते ही पुराने नारकी उस पर हमला कर देते हैं। उन की परिणति ठीक वैसी ही होती है जैसे अपनी गली में अन्य कुत्ता आने पर अन्य कुत्तों की होती है या शिकार को देख कर मांसाहारी प्राणी की होती है।

वे नारकी मुद्गर, मूसल, भाला, तलवार, करोंत, कटारी आदि नानाविध आयुधों के द्वारा उस को मारने व काटने लगते हैं। कितने ही नारकी पूर्व भव का वैर स्मरण कर के उन्हें धधकती भट्टी में फेंकना, घानी में पेल देना, उबलते हुए तेल की कड़ाही में झोंकना आदि कार्यों के द्वारा दु:ख देते हैं।

नारकी जीवों की अपृथग्विक्रिया होती है। वे अन्य नारकियों को दु:ख देने के हेतु अपने शरीर की क्रूर विक्रिया करते हैं, कभी वैतरणी नदी में मगरमच्छ बन कर कष्ट देते हैं तो कभी वृक्ष पर तीक्ष्ण वज्रमय चोंच से गिद्ध, गरुड़, चील आदि मांसभक्षी प्राणी का रूप धारण कर मांस को नोंच-नोंच कर खाते हैं तथा ऊपर से तीव्र वेदनादायक नमक मिर्च डालते हैं, जिस से वह नारकी पीड़ा से बहुत छटपटाता है व अन्त में मूर्च्छित हो जाता है। उमास्वामी महाराज ने इस दु:ख का चित्रण निम्नलिखित शब्दों

में किया है :- **परस्परोदीरित दुःखाः** (3/4) उन नरकों में परस्पर उदीरित दुःख भी है।

आचार्य श्री अकलंक देव इस सूत्र के व्याख्यान प्रसंग में लिखते हैं कि निर्दय होने पर कुत्ते के समान एक-दूसरे को देख कर नारकियों के क्रोध की उत्पत्ति हो जाती है। जैसे कुत्ते शाश्वतिक अकारण अनादिकाल से होने वाले वैर के कारण निर्दय हो कर भौंकना, छेदना-भेदना आदि उदीरित दुःख वाले होते हैं, उसी प्रकार नारकी भी मिथ्यादर्शन के उदय से विभंग नाम को प्राप्त भवप्रत्यय अवधिज्ञान के द्वारा दूर से ही दुःख के हेतुओं को जान कर उत्पन्न दुःख की प्रत्यासत्ति से एक दूसरे को देखने से उत्पन्न हुई है क्रोध अग्नि जिन की, ऐसे वे अपने शरीर की विक्रिया से तलवार, परशु आदि शस्त्र बना कर परस्पर देहघात, छेदन-भेदन, पीड़न आदि के द्वारा उदीरित दुःख वाले होते हैं।

वृक्ष, शस्त्र आदि रूप धारण कर नारकी ही अन्य नारकियों को सताते हैं। यहाँ के परस्पर मित्र वहाँ शत्रु बन जाते हैं। एक दूसरों को दुःख देने में ही वहाँ आनन्द आता है।

प्रथम नरक की जघन्य आयु 10,000 वर्ष की होती है। पहले नरक की उत्कृष्ट आयु एक सागर, दूसरे की तीन सागर, तीसरे की 7 सागर, चौथे की 10 सागर, पाँचवे की 17 सागर, छठे की 22 सागर, सातवें की 33 सागर की है। एक नरक की उत्कृष्ट आयु में एक समय मिलने पर आगे के नरक की जघन्य आयु जाननी चाहिए।

सागर शब्द बड़ा रहस्यमय उपमामान है। दो हजार कोस लम्बा, चौड़ा गहरा गड्ढा खोद कर उस में भोगभूमिज भेड़ के बाल जिस के फिर दो टुकड़े न हो सकें, उन से भर दो। 100 साल में एक बाल निकालो। इस गड्ढे को खाली करने में जितना समय लगता है, उतने समय को व्यवहार पल्य कहते हैं।

असंख्यात व्यवहार पल्य = 1 उद्धार पल्य।

असंख्यात उद्धार पल्य = 1 अद्धा पल्य।

10 कोड़ा-कोड़ी अद्धापल्य = 1 सागर।

1 करोड़ x 1 करोड़ = 1 कोड़ा-कोड़ी।

इतने लम्बे काल तक यह जीव वहाँ दुःख को सहन करता है। इन जीवों का

अकाल मरण नहीं होता। एक नारकी दूसरे नारकी के शरीर को छेद-भेद देते हैं, वह शरीर फिर वैसे ही जुड़ जाता है। जैसे - पारा गर्मी का समागम पा कर फैल जाता है कुछ देर बाद ठंडी हवा के झोंके से पुन: सिकुड़ जाता है। रबड़ खींचते जाओ वह लम्बा होता जाएगा। छोड़ देने पर फिर स्व-स्वरूपाकार बन जाता है, वैसे ही नारकी के शरीर के तिल-तिल बराबर टुकड़े करने पर भी वे पुन: जुड़ जाते हैं।

इसीलिए प.पू. तीर्थभक्त शिरोमणि, बहुभाषाविद्, आचार्य 108 श्री **महावीरकीर्ति** जी महाराज कहा करते थे :- **"जिन्दगी के कष्टों से डरने वालों! तुम यहाँ तो आत्महत्या कर लोगे किन्तु नरक में क्या करोगे? क्योंकि नरक में आत्महत्या का प्रसंग ही नहीं है।"**

देवगति के दु:ख

जिस दिव् धातु से देव शब्द बना है उस दिव् धातु का अर्थ है क्रीड़ा या कान्ति। अर्थात् जो दीप्तिमान हैं व निरन्तर यथेच्छ क्रीड़ा में निमग्न हैं, वे देव हैं।

धवलाकार लिखते हैं कि -

दिव्वंति जदो णिच्चं गुणेहि अट्ठहि य दिव्व भावेहि।
भासंत दिव्व काया तम्हा ते वण्णिया देवा॥

(धवला पुस्तक - 1, पृष्ठ-204)

दिव्यस्वरूप अणिमादि 8 गुणों द्वारा निरन्तर जो क्रीड़ा करते हैं, जिन का शरीर प्रकाशमान है, जो दिव्य हैं, उन्हें देव कहते हैं।

वे देव 4 प्रकार के होते हैं - भवनवासी, व्यन्तरवासी, ज्योतिषवासी व विमानवासी। पहले के तीन देवों को भवनत्रिक संज्ञा से अभिसंज्ञित किया गया है, आगम में।

भवनत्रिक के दु:ख - तिलोय-पण्णत्तिकार यतिवृषभाचार्य लिखते हैं कि ज्ञान चरित्र के विषय में जिन्होंने अपने मन की शंकाओं को दूर नहीं किया है, मिथ्यात्वादि क्लिष्ट भावों से जो युक्त हैं, कामिनी के विरह से जो जर्जरित हुए हैं, जो कलहप्रिय हैं पापिष्ठ हैं, अविनयी हैं, वैरभाव में जिन की रुचि है, जो तीव्र कषायी हैं, दुराचारी हैं, वे जीव भवनवासियों में जन्म लेते हैं। यही कारण ज्योतिषी देवों में जन्म लेने में है।

समाधि मरण के बिना मरने से, असत्यवादी, कामासक्त, कौतूहलप्रिय, आराध्य

परमेष्ठियों पर दोषारोपण करने से, मायाचारी व अविनयी जीव व्यन्तर देवों में उत्पन्न होते हैं।

वैसे सामान्य से इन तीनों निकायों में जन्म लेने का कारण है, अकाम निर्जरा। अकाम निर्जरा का अर्थ है, आप का उत्साह तो न हो, इच्छा तो न हो किन्तु परिषह आ जाय, भूख-प्यास की बाधा से आप बाधित हो जायें तो मजबूरी को देख कर उन परिषहों को शान्त भावों से सहते हुए जो कर्म निर्जरा होती है, उसे अकाम निर्जरा कहते हैं।

भवनत्रिक देव हीन देवों की श्रेणी में आते हैं। ये देव इच्छाओं की ज्वाला से दग्धायमान होते हैं। जहाँ-जहाँ चाह है, वहाँ-वहाँ मात्र दुःख है। अभिलाषा विरहित परिणामों में ही सुख है। वे देव अन्य देवों की सम्पत्ति का अवलोकन कर के दुःखित होते हैं व सोचते हैं कि काश! हमारे पास भी इतनी संपत्ति होती। उन का कुण्ठा-भाव उन्हें प्राप्त सुख का उपभोग नहीं करने देता।

इस चंचल चपल पापी मन में एक कमजोरी पाई जाती है कि वह कभी अन्तर्मुख नहीं बनने देगा। जब भी मन की प्रवृत्ति होगी तो बहिर्मुखाकार। दूसरों को ही ताकता रहता है, यह मन। यदि यह मन आपत्परिस्थितिवान् व्यक्तियों की ओर दृष्टिपात करे तो सुख का बिन्दु पा सकता है। सन्तोष होगा उस को अपनी स्थिति पर, किन्तु ऐसा नहीं होता। मन साधनसम्पन्न जीवों को देखने में इतना समय गँवा देता है, कि खुद के भाग्य का सुख भी भोग नहीं पाता।

एक महोदय ने अतिशय कटु सत्य लिखा है। वह लिखता है कि जीव स्वयं सुखी होना नहीं चाहता है, वह चाहता है कि मैं उस से सुखी होऊँ। जीव यदि मात्र सुखी होना चाहे तो संसार का प्रत्येक प्राणी सुखी हो जाएगा, सुख प्रत्येक प्राणी के अन्तर्मन में आलोड़न-विलोड़न करेगा। तुलना के अनुसार सुख खोजेगा तो एक भी जीव सुखी नहीं हो सकता।

वैसे देव पर्याय में सांसारिक इन्द्रिय विषयक सुखोपभोग प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं, किन्तु उन के हृदयगर्भ में ईर्ष्या की अग्नि सदा जलती रहती है - सम्पदा पाने के लिए मन अकुलाता रहता है। जब मरणकाल आता है, तो गले की माला मुरझा जाती है, वस्त्राभूषण कान्तिहीन हो जाते हैं, चेहरा म्लान हो जाता है। इन सारे दृश्यों से

आश्चर्य को प्राप्त हुआ वह देव अवधिज्ञान के द्वारा जानता है कि अब मेरे अति सन्निकट में मरण आया है, छह माह की आयु शेष रही है, तब वह नाना प्रकार से विलाप करता है, दुर्ध्यान करता है।

जब उस देव को यह ज्ञात होता है कि यहाँ से मर कर मल, खून आदि अनेक अपवित्र व दुर्गन्धित स्थान रूप गर्भ में मुझे 9 माह रहना पड़ेगा तो वह विलाप करने लगता है। मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? कौन मेरा शरण होगा? इस गर्भवास से मुझे कौन बचायेगा? प्रभो! यदि यहाँ से मेरा मरण होता है तो भले ही होवे किन्तु मुझे नरकतुल्य गर्भ में निवास न करना पड़े, भले ही मैं एकेन्द्रिय बन जाऊँ।

ऐसे विचार उस के मन में हिलोरें लेने लगते हैं, उसी कारण वह एकेन्द्रिय पर्याय का बन्ध कर लेता है।

यह नियम है कि देव मर कर देव नहीं होता, देव मर कर नारकी नहीं होता, नारकी मर कर नारकी नहीं होता, नारकी मर कर देव नहीं होता। देव मर कर अग्नि कायिक में, सूक्ष्म एकेन्द्रिय में, भोगभूमि में, असंज्ञी पंचेन्द्रिय में अथवा लब्ध्यपर्याप्तक में जन्म नहीं लेता। बारहवें स्वर्ग के ऊपर के देव चाहे वे भव्य हों या अभव्य, चाहे सम्यग्दृष्टि हों या मिथ्यादृष्टि, मनुष्य पर्याय ही पाते हैं। अन्य देव अपने-अपने उपार्जित कर्मानुसार मनुष्य, संज्ञी पंचेन्द्रिय, पृथ्वीकायिक, जलकायिक तथा प्रत्येक वनस्पतिकायिक पर्याय को प्राप्त होते हैं।

विमानवासी देव एवं उन के दुःख – आयतन की सेवा, सद्धर्मश्रवण, तप की भावना, कषायनिग्रह, सम्यक्त्व, व्रतपालन, जिन पूजा आदि अनेक कारणों से यह जीव वैमानिक बनता है।

वैमानिक देव दो प्रकार के होते हैं – कल्पोपपन्न व कल्पातीत। जहाँ इन्द्र सामानीकादिकों की कल्पना होती है, उस स्थान को कल्प कहते हैं। उस कल्प में जो उत्पन्न होता है, वह कल्पोपपन्न देव है। जहाँ कल्प की व्यवस्था नहीं है, जहाँ के देव अहमिन्द्र शब्द से चिह्नांकित हैं, जहाँ छोटे-बड़े का भेद नहीं है, वह कल्पातीत है।

वैमानिक देव यद्यपि अनेक ऋद्धिसंपन्न, संपत्तियुक्त वैभव से परिपूर्ण तथा विशेष ज्ञानयुक्त होते हैं, किन्तु मन में धधकती ईर्ष्या की ज्वाला उन्हें सुखी नहीं होने देती।

वे निरन्तर सुखोपभोग में मग्न रहते हैं, किसी बात की कमी नहीं होती, किन्तु मन की इच्छा कभी तृप्त नहीं होती, वे सदा अतृप्त वासनावान रह जाते हैं। उन की अतृप्तता उन्हें इतना क्लेशित करती है कि मरते समय उन्हें कहना पड़ता है कि अभी इतना शीघ्र जाना पड़ेगा? अतएव मर कर दुर्गति का ही पात्र बनना पड़ता है।

मनुष्य गति तथा उस के दुःख

अनेक घोर कष्टों के पश्चात् जीवन में कठिन मोड़ से गुजरी अनन्त साधना के पश्चात् कभी यह जीव मनुष्य पर्याय प्राप्त कर लेता है।

मनुष्य व देव पर्याय में तुलना करें तो ज्ञात होगा कि देव पर्याय में प्राप्त सांसारिक सुखों का एक अंश भी मानव पर्याय में नहीं मिल पाता। देवों का वैक्रियक शरीर होता है, जो खून, पीव, हड्डी, मांस आदि से रहित होता है। निकृष्ट से निकृष्ट देव को 32 देवांगणाएं होती है, अणिमा महिमादि 8 गुण उन में पाए जाते हैं। लम्बी आयुवान व श्रेष्ठ कान्तिवान होते हैं देव! चिन्ता विरहित देव निरन्तर क्रीड़ाओं में लीन रहते हैं। खाने की भी चिन्ता नहीं, नियोग के समय पर स्वयमेव अमृत ही गले में झर जाता है। इतना सब कुछ होने के उपरान्त भी समस्त तत्त्वाधिपतियों ने मनुष्य पर्याय को ही श्रेष्ठ क्यों बताया?

आर्षवाक्य है कि देव व नारकी पहले चार गुणस्थान ही प्राप्त कर सकता है। तिर्यंच अधिकतर पंचम गुणस्थान की साधना कर सकता है, किन्तु गुणस्थान की 14 सीढ़ियाँ पार कर के मोक्ष प्राप्त करने की साधना मनुष्य ही कर सकता है। तीर्थंकरत्व, चक्रवर्तीत्व, नारायणत्व, बलभद्रत्व आदि संसार की उत्तम उपाधियाँ केवल मानव को ही प्राप्त हैं। अन्य पर्यायवासियों को यह सम्मान नहीं मिलता।

प्रथमानुयोग के परिशीलन से यह ज्ञात होता है कि मानवों की सेवा देवलोग करते हैं। चक्रवर्ती के एक-एक रत्न की सेवा हेतु 1000/1000 देव कटिबद्ध रहते हैं। तीर्थंकर के पाँच कल्याणक देवों ने मनाए।

मनुष्य कौन हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते समय धवलाकार कहते हैं –

मण्णंति जदो णिच्चं मणेण णिउणा मणुक्कडा जम्हा।
मणु उब्भवा य सव्वे तम्हा ते माणुसा भणिया।।

(धवला 1 - पृ. 204)

जो मन से युक्त हैं, सूक्ष्मविचार, दूरदर्शनादि क्रियाओं से अथवा चिरकाल धारणादि के उपयोग से युक्त हैं अथवा जो मनु की संतान हैं, वे मनुष्य हैं।

एक सुभाषितकार ने लिखा है :-

गृहेषु चन्द्रो मृगराज मृगेषु, राजा खगेन्द्रो गरुडोऽण्डजेषु:!
रत्नेषु वज्रं जलजेषु पद्मं, यथा तथा सर्व भूतेषु नृत्वम्!!

जिस प्रकार ग्रहों में चन्द्रमा श्रेष्ठ है, पशुओं में सिंह अतुल पराक्रमी है, मानवों में राजा उत्तम है, पक्षियों में गरुड़ का अस्तित्व शीर्ष पर है, रत्नों में हीरा मूल्यवान है, जल में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं में कमल श्रेष्ठ है, वैसे समस्त पर्यायों में मानव पर्याय श्रेष्ठ है।

विज्ञान की दिन प्रतिदिन उभरती शक्तियों को देख कर मानव मन के असाधारणत्व का बोध हो जाता है। मानव अपने असाधारण गरिमामय मस्तिष्क के द्वारा समूची सृष्टि पर राज्य कर रहा है। आज तक जितने भौतिक आविष्कार हुए या आज जो हो रहे हैं सब मानव की देन हैं। अपने पर अनुशासन कर यह जीव इच्छित सुख को प्राप्त कर सकता है। मानव तन रूपी पुतला परमात्मा का प्रतिनिधित्व ले कर चलता है। आध्यात्मिक जीवन की समग्र शक्तियाँ मानवीय भूमि पर ही पल्लवित होती हैं, पुष्पित होती हैं, मानव का महिमागान करते हुए तुलसीदास ने लिखा है :-

बड़े भाग मानुष तन पावा।
सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन गावा।।

इतना अमूल्य अवसर पा कर हमने क्या किया? क्या लाभ उठा रहे हैं हम उस से? क्या उपयोग कर रहे हैं हम उस का? हम इतने महतावसर को व्यर्थ ही तो खो रहे हैं न? क्या कर रहे हैं हम? अपने आप की कैसी दयनीय अवस्था बना ली हमने?

शिशुकाल जु लड़ावन में, बचपन खेल गवाँय दिया।
जब तरूण भये ग्रह चक्र फँसे धन संचय भोगत भोग किया।।
वृद्धापन अंग उमंग नहीं, चिंतामणि पाय डुबोय दिया।
जप तप व्रत दान न ध्यान किया, नर जन्म वृथा ही खोय दिया।।

बालू के समुद्र में गिरे हुए हीरे को पुनः पाना जितना कठिन है, उस से भी कठिन

है, मनुष्य पर्याय को पुनः पाना - किन्तु कुछ दुर्भागी जीव गर्भावस्था में ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

गर्भावस्था में यह जीव गर्भ थैली में उल्टा रहता है, माँ जो खाती है वह खा लेता है। गर्भ की थैली बहुत छोटी होती है, जिस में हाथ पैर सिकोड़ कर रहना पड़ता है। माँ के चलने फिरने के कारण या बोझादि उठाने के कारण होने वाले दर्द तो अनगिनत हैं। पंडित दौलतरामजी ने बड़े ही सरल शब्दों में कहा - **''जननी उदर वस्यो नवमास, अंग संकुचतैं पायो त्रास।''** इस अकथनीय वेदना को सहते-सहते कई बालक तो गर्भावस्था में ही मर जाते हैं।

भाग्योदय से यदि गर्भावस्था में बच्चा जीवन्त रह जाय तो गर्भावस्था छोड़ कर जन्म लेते समय अकथनीय दुःख होता है। जन्मते ही वह जीवन मरण के झूले में झूलता हैं। यदि उस से भी बच जाता है तो 8 वर्ष तक उस में सम्यक्त्व प्राप्ति की योग्यता का जन्म नहीं होता। इसलिए 8 वर्ष तक वह मिथ्यात्व के दोष से दूषित रहता है। बचपन खेलकूद में ही गुजर जाता है। यह जीव युवावस्था को प्राप्त हो कर काम व्याकुल हो भोगों में मस्त हो जाता है। सप्त व्यसनों में फँस जाता है। जवानी एक ढलान का मार्ग है, जिस पर फिसलने का अधिक डर है। आज भौतिक प्रसाधनों में युवक मार्गभ्रष्ट हो जाये, इस में क्या आश्चर्य।

आज के युग के युवावर्ग के विषय में मैं स्वरचित कविता सुनाऊँ -

हे सखे!
रामायण के राम ने
कैकेयी के सम्मान में
घर-द्वार छोड़ा
वन की ओर मुख मोड़ा।
आजकल के राम
माँ बाप को देते हैं गम का इनाम
उन का अखिल सम्मान
कर देते नेस्तनाबूत
कैसे हैं ये जिन्दा भूत?

इन से खो गया धरम
इन की मारी गई शरम।
लिपिस्टक की हिफाजत के लिए
पिता को डैड कहते हैं।
डिस्को-डान्स करते हैं
आधे तो मैड रहते हैं।
सूट-पैन्ट पहन कर बन गए हीरो।
अक्ल में रह गए बेचारे जीरो॥
खाना भी खड़े-खड़े खाते हैं
और गर्दभ स्वर में तो गाते हैं।
कैसे होगा युवकों का कल्याण?
आकर बताओ, महावीर भगवान॥

जीवन के अन्तिम पड़ाव का नाम है बुढ़ापा। जीवन व मृत्यु के बीच का सेतु है यह। बुढ़ापा यानि जीवन का आखिरी छोर। बचपन की बेहोशी, जवानी की मदहोशी, बुढ़ापे की खामोशी इन तीनों का सम्मिश्रण है जीवन। जब जवानी आयी थी, तब वासना की हरियाली छायी थी, नित्य नये फैशन में डूब गए थे, धन कमाना व भोग करना ये दो ही कार्य उसे याद थे।

जवानी का सूर्य ज्यों ही डूब गया, बुढ़ापे की संध्या ने जीवन-सृष्टि पर अपना आधिपत्य कायम किया। अंग में उमंग नहीं बची। अब यह जीवन पराधीन हो गया। कमर ऐसी झुक गयी मानो विगत में खोई जवानी को पुनः ढूँढने हेतु वह जीव आतुर हो। जिन्दगी में कभी कोई यात्रा नहीं की थी तो पैरों ने नाराज हो कर चलने-फिरने का कार्य बन्द कर दिया। कभी किसी की अच्छाई नहीं देखी गई होगी शायद, कभी किसी के दुःख देख कर आँखों से कभी दो बूँद आँसू बहाने की फुर्सत नहीं थी, इसलिए आँखों ने विदाई मांग ली। कभी हाथों से दानादि शुभ कार्य नहीं करवाये थे, बुरे कार्य करते-करते हाथ थक गए। मुँह में नमूने के लिए भी दाँत नहीं बचा। बाल भी जर्जरता के कारण सफेद हो गये। कान बुराई सुनते-सुनते इतने ऊब गये कि उन्होंने अपना कार्य समेट लिया। जीवन का पाप आँखों के सामने नाचने लगा, हाय! न जाने इस करनी के कारण मुझे कौन-सी गति में जाना पड़ेगा? यह सोच कर शरीर

लड़खड़ाने लगा। बुढ़ापे के वर्णन में चार पंक्तियाँ सुनाऊँ –

आया बुढ़ापा हटी, चाल बनी अटपटी।
दांतन की पंक्ति टूटी, इच्छारानी खाय रे॥

रोग ने शरीर घेरा, बालों ने रंग फेरा।
मौत ने डाला डेरा, आगे न सुझाय रे॥

(सुविधि गीत मालिका के काव्याधिकार से उद्धृत)

पण्डित दौलतराम जी ने बुढ़ापे का वर्णन करते समय लिखा :–

''अर्धमृतकसम बूढ़ापनो''

बचा ही क्या है अब? मुँह से लार बह रही है, शरीर नानाविध रोगों का घर बन बैठा है अब। अंग सारा संकुचित हो जाता है, मांसराशि सूख कर नस–जाल झलक जाते हैं। मलमूत्र का बहाव बहने लगता है, कफ गिरने लगता है, उठना–बैठना कठिन हो जाता है। यद्यपि तृष्णा की अग्नि मन में धधकती रहती है। फिर भी कुछ कर न पाने से उस की कषाय भड़क जाती है। परिजन वर्ग उस से घृणा करने लगते हैं।

जिन बच्चों को हमने जन्म दिया था, जिन्हें पाल–पोस कर बड़ा किया था, जिन के लिए अनेकों कष्ट सहे थे, वे धमकी देने लगे। बात–बात पर डाँटने लगे। कहने लगे कि चुप रहो, बुढ़ापे के कारण तुम्हारी बुद्धि मारी गयी है। सब के जलजले कटु वचन सुन–सुन कर परेशान हो जाते हैं। अन्त में मौत आ कर हम से आलिंगनबद्ध हो जाती है अर्थात् जीवन–लीला समाप्त हो जाती है। इस तरह जीवन के चन्द क्षण हम ने यूं ही खो दिये।

चारों गतियाँ अस्थिर हैं, दुःखमय हैं। मोक्ष ही शाश्वत है, सुख–स्थान है। अतएव मोक्षसाधना ही हमारा ध्येय होना चाहिए।

आज मानव अत्यन्त दुःखी है, पीड़ित है। सर्वत्र आज अराजकता है, अशांति है, चारों ओर आज जहरीले विनाशकारी विचार हैं। अक्षुण्ण प्रयास है उस का शान्ति पाने का! सतत खोज कर रहा है - वह मानवता का प्यार, शान्ति का द्वार, समता का मनमोहक संगीत।

इन भौतिक विनाशकारी विचारों में, हिंसक प्रसाधनों में शान्ति का मिलना कठिन ही नहीं अति दुर्लभ है। इन साधनों में नम्बर दो का पैसा मिल सकता है, झूठी शान मिल सकती है, किन्तु सुख नहीं मिल सकता। सुख का एकमेव स्थान है मोक्ष।

रात गमाई सोय करी, दिवस गमायो खाय।
हीरा जन्म अमोल है, कौड़ी बदले जाय॥

हमने आज तक **Eat, drink and be merry** का सिद्धान्त अपना कर जीवन के क्षण व्यर्थ में ही गँवा दिए। अब हमें आत्मसाधना करनी है। आज और अभी, क्योंकि कल का क्या भरोसा? वर्तमान समय है रेत का एक कण, भविष्य है सागर के किनारे की रेत। वर्तमान का क्षण कब खो दिया पता ही नहीं चल पाएगा। भविष्य कल्पना है, सत्य नहीं। अस्तित्व तो वर्तमान का है।

अन्त में, मैं आप को इतना ही कहना चाहूँगा कि अपनी महत्ता व समय की मूल्यता पर ध्यान दीजिए। अपना स्मरण ही धर्म की ओर कदम बढ़ाना है या मोक्ष की ओर कदम बढ़ाना है। अतएव आप अपना ही स्मरण करें।

आप अपने जीवन के सम्प्राप्त क्षणों का सदुपयोग करना सीखें, आत्मसाधना के द्वारा आप संसार का ध्वंस करें, यही मंगलकामना कर के मैं विराम लेता हूँ।

क्या हम मानव हैं?

प्रवचनकार : परम पूज्य आचार्यरत्न 108 श्री सन्मतिसागर जी महाराज।

संकलन : परम पूज्य श्रमण मुनि पुंगव 108 श्री सुविधिसागर जी महाराज।

मुमुक्षु भव्यात्माओं!

मानव-जीवन एक बहुमूल्य ऊर्जा है। अनन्तानन्त शक्ति स्रोत इस में भरे पड़े हैं, इसलिए तो संसार के अधिकांश तत्त्ववेत्ताओं ने, तत्त्वदर्शियों ने इसे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उद्घोषित किया है। भगवान की अति प्रिय छवि को स्मृति पटल पर लाते हुए हमें वर्तमान परिप्रेक्ष्य में मानवीय जीवन-मूल्यों का चिन्तन करना है, अध्ययन करना है।

मानवीय शरीर की आकृति तो बहुत उपलब्ध होगी, परन्तु मानवता किंचित् कदाचित् विरले ही प्राप्त होगी। रामायण के महा अध्यायों में राम व रावण दोनों का उल्लेख है। दोनों का तन मानवीय था, रावण राक्षसी संज्ञा से अभिसंज्ञित हुआ तो राम दैवी संज्ञा से अलंकृत हुए। तन वही-आकृति वैसी ही अर्थात् यह सुस्पष्ट है कि एक समान आकृति में राम-रावण (मानव व दानव) दोनों ही निवास करते हैं।

सभी पर्यायों में मानव पर्याय श्रेष्ठ है। आत्मिक शक्ति ही नहीं अपितु भौतिक संसार में विज्ञान द्वारा अवतरित की गई समस्त दृश्यमान शक्तियाँ मानव-जीवन का ही परिणाम हैं। मानव सर्वगुणसम्पन्न विकासोन्मुख प्राणी है तथापि आज चलने को गाड़ी, बैठने की गद्दी, गणित के लिए कैलकुलेटर, श्रवण करने के लिए टेपरिकार्डर, देखने के लिए टी.वी. (टेलीविजन), इतना ही नहीं सर्वगुण सम्पन्न रोबोट की उत्पत्ति मानव के ज्ञान की गरिमा है परन्तु आविष्कार की होड़ में मानव की स्वतंत्रता नौ दो ग्यारह होती जा रही है। फिर बताओ यह आविष्कार रत चैतन्य मानव विकास सम्पन्न है कि पंगु?

कुछ ही व्यक्ति मानवता की भूमिका पर आरूढ़ होने वाले मिलेंगे। अधिकांश मानव तनधारी व्यक्ति दानवीय प्रतिकृति लेकर चलते रहते हैं। स्कूल, कॉलेजों में सब तरह की डिग्रियाँ प्राप्त करने पर भी जब तक मानवता की डिग्री प्राप्त नहीं होगी, मानवीय भूमिका पर आस्था नहीं होगी, तब तक क्या उस जीवन को मानव का जीवन कहेंगे?

चन्द्रकान्तमणि, सूर्यकान्तमणि आदि मणि तो सीमित प्रकाश करते हैं किन्तु मानव तन रूपी मणि समस्त विश्व को आलोकित कर सकती है, यदि मानव उस का सदुपयोग करना सीख ले।

आज का मानव श्रेष्ठ मस्तिष्क की गरीमामयी महान् उपलब्धि का कितने अंश में सदुपयोग कर रहा है, यह अत्यन्त विचारणीय है। आज मानव ने मानवता को तिलांजलि दी है। मानवता मरी नहीं है, केवल वह दब गई है। उसे अनावृत करने का कार्य करना है। मानव तो वही है, जिस में मानवता का वास हो।

मानवता की प्राण-शक्ति का मूल स्रोत है - अनुकम्पा। मानव सामाजिक प्राणी है। समाज का अस्तित्व है; परस्पर के सहयोग का आधार - मानव हृदय की

कोमलता अर्थात् परस्पर के सुख-दुःख में सहज संवेदना। उसी अनुभूति का अपर नाम है करुणा। जिस के अन्तर्मन में करुणा की धारा प्रवाहित नहीं हुई, वह मानव नहीं, पशु है।

आज के मानव का तन-धन तथा बौद्धिक शक्तियों ने काफी विकास पाया है, किन्तु दुर्भाग्यवश हृदय में करुणा का शीतल निर्झर सूख गया है। परिणामस्वरूप वहाँ एक भयंकर तप्त मरुस्थल का निर्माण हो गया है। पारस्परिक वैर-विरोध, घृणा, विद्वेष की धूल भरी जलती हुई तूफानी आँधियाँ चल रही हैं। इतस्ततः हत्या, लूटमार, बलात्कार, भ्रष्टाचार का रावण-राज्य उपस्थित हो गया है, जिस में मानव जाति के सर्व विनाश का खतरा उपस्थित हो रहा है। अब धरती पर सुख-शान्ति का जीवित स्वर्ग करुणा ही उतार सकती है। करुणा नहीं तो, धरती नर्क है। मानव को मानव बने रहना है, तन से नहीं, मन से भी। मानवता को द्योतित करना है, तो भगवती करुणा का प्रश्रय लेना होगा। दुःखी हृदय के धूल उड़ते मरुस्थल में पुनः दया का परम अमृत निर्झर बहाना होगा। "**आत्मवत् सर्वभूतेषु**" का नारा हमें कथनी के द्वारा नहीं, करनी के द्वारा गुंजाना होगा। तभी हम छाती ठोक कर कह सकते हैं :-

"न हि मनुष्यात् श्रेष्ठतरं किंचित्।"

हमारे भीतर मानवीय वृत्तियों का प्रादुर्भाव हो, हम सही अर्थों में मानव बनें, अपनी ऊर्जा का (शक्ति का) उपयोग समाज-कल्याण एवं आत्मोत्थान की दिशा में करें।

इसी परम भावना के साथ मैं विराम लेता हूँ।

❑

परिशिष्ट – 1

	पर्याय का नाम	जघन्यायु	उत्कृष्टायु
1.	रत्नप्रभा (नरक)	10,000 वर्ष	1 सागर
2.	शर्करा प्रभा	साधिक एक सागर	3 सागर
3.	वालुका प्रभा	साधिक 3 सागर	7 सागर
4.	पंक प्रभा	साधिक 7 सागर	10 सागर
5.	धूम प्रभा	साधिक 10 सागर	17 सागर
6.	तमः प्रभा	साधिक 17 सागर	22 सागर
7.	महातमः प्रभा	साधिक 22 सागर	33 सागर
8.	पृथिवीकायिक शुद्ध	अन्तर्मुहूर्त	12,000 वर्ष
9.	पृथिवीकायिक खर	अन्तर्मुहूर्त	22,000 वर्ष
10.	अप्कायिक	अन्तर्मुहूर्त	7,000 वर्ष
11.	तेजकायिक	अन्तर्मुहूर्त	3 दिन रात
12.	वायुकायिक	अन्तर्मुहूर्त	3,000 वर्ष
13.	वनस्पतिकायिक साधारण	अन्तर्मुहूर्त	10,000 वर्ष
14.	द्वीन्द्रिय	अन्तर्मुहूर्त	12 वर्ष
15.	त्रीन्द्रिय	अन्तर्मुहूर्त	49 दिन रात
16.	चतुरिन्द्रिय	अन्तर्मुहूर्त	6 माह
17.	जलचर	अन्तर्मुहूर्त	1 कोड़ी पूर्व

परिशिष्ट - 1

18.	पक्षी	अन्तर्मुहूर्त	72,000 वर्ष
19.	असंज्ञी पंचेन्द्रिय	अन्तर्मुहूर्त	1 कोड़ी पूर्व
20.	सरिसृप	अन्तर्मुहूर्त	9 पूर्वांग
21.	स्थलचर (कर्मभूमिज)	अन्तर्मुहूर्त	1 पल्य
22.	उत्तम भोगभूमिज	अन्तर्मुहूर्त	3 पल्य
23.	मध्यम भोगभूमिज	अन्तर्मुहूर्त	2 पल्य
24.	जघन्य भोगभूमिज	अन्तर्मुहूर्त	1 पल्य
25.	कुभोगभूमिज	अन्तर्मुहूर्त	1 पल्य
26.	कर्म भूमिज	अन्तर्मुहूर्त	1 पल्य
27.	भवनवासी देव	10,000 वर्ष	1 सागर
28.	असुरकुमार	10,000 वर्ष	1 सागर
29.	नागकुमार	10,000 वर्ष	3 पल्य
30.	विद्युत कुमार	10,000 वर्ष	$1\frac{1}{2}$ पल्य
31.	सुपर्णकुमार	10,000 वर्ष	$2\frac{1}{2}$ पल्य
32.	अग्निकुमार	10,000 वर्ष	$1\frac{1}{2}$ पल्य
33.	वातकुमार	10,000 वर्ष	$1\frac{1}{2}$ पल्य
34.	स्तनितकुमार	10,000 वर्ष	$1\frac{1}{2}$ पल्य
35.	उदधिकुमार	10,000 वर्ष	$1\frac{1}{2}$ पल्य

परिशिष्ट – 1

36.	द्वीपकुमार	10,000 वर्ष	2 पल्य
37.	दिक्कुमार	10,000 वर्ष	$1\frac{1}{2}$ पल्य
38.	व्यंतरवासी देव	10,000 वर्ष	1 पल्य
39.	किन्नर	10,000 वर्ष	1 पल्य
40.	किं पुरुष	10,000 वर्ष	1 पल्य
41.	महोरग	10,000 वर्ष	1 पल्य
42.	गंधर्व	10,000 वर्ष	1 पल्य
43.	यक्ष	10,000 वर्ष	1 पल्य
44.	राक्षस	10,000 वर्ष	1 पल्य
45.	भूत	10,000 वर्ष	1 पल्य
46.	पिशाच	10,000 वर्ष	1 पल्य
47.	ज्योतिषी देव	पल्य का आठवाँ भाग	1 पल्य
48.	चन्द्र	पल्य का चौथाई भाग	1 पल्य + 100000 वर्ष
49.	सूर्य	पल्य का चौथाई भाग	1 पल्य + 1000 वर्ष
50.	शुक्र	पल्य का चौथाई भाग	1 पल्य + 100 वर्ष
51.	गुरु	पल्य का चौथाई भाग	1 पल्य
52.	बुध	पल्य का चौथाई भाग	$\frac{1}{2}$ पल्य
53.	मंगल	पल्य का चौथाई भाग	$\frac{1}{2}$ पल्य

परिशिष्ट - 1

54.	शनि	पल्स का चौथाई भाग	½ पल्य
55.	नक्षत्र	पल्स का आठवाँ भाग	½ पल्य
56.	तारे	पल्स का आठवाँ भाग	¼ पल्य
57.	विमानवासीदेव	10 हजार वर्ष	33 सागर
58.	सौधर्म	साधिक 1 पल्य	साधिक 2 सागर
59.	ऐशान	साधिक 1 पल्य	साधिक 2 सागर
60.	सनत्कुमार	कुछ अधिक 2 सागर	साधिक 7 सागर
61.	माहेन्द्र	कुछ अधिक 2 सागर	साधिक 7 सागर
62.	ब्रह्म	साधिक 7 सागर	साधिक 10 सागर
63.	ब्रह्मोत्तर	साधिक 7 सागर	साधिक 10 सागर
64.	लांतव	साधिक 10 सागर	साधिक 14 सागर
65.	कापिष्ट	साधिक 10 सागर	साधिक 14 सागर
66.	शुक्र	साधिक 14 सागर	साधिक 16 सागर
67.	महाशुक्र	साधिक 14 सागर	साधिक 16 सागर
68.	सतार	साधिक 16 सागर	साधिक 18 सागर
69.	सहस्रार	साधिक 16 सागर	साधिक 18 सागर
70.	आनत	18 सागर	20 सागर
71.	प्राणत	18 सागर	20 सागर

परिशिष्ट - 1

72.	आरण	20 सागर	22 सागर
73.	अच्युत	20 सागर	22 सागर
74.	नव ग्रैवेयक	22 सागर	31 सागर
75.	सुदर्शन	22 सागर	23 सागर
76.	अमोघ	23 सागर	24 सागर
77.	सुप्रबुद्ध	24 सागर	25 सागर
78.	यशोधर	25 सागर	26 सागर
79.	सुभद्र	26 सागर	27 सागर
80.	सुविशाल	27 सागर	28 सागर
81.	सुमनस	28 सागर	29 सागर
82.	सौमनस	29 सागर	30 सागर
83.	प्रीतिंकर	30 सागर	31 सागर
84.	नव अनुदिश	31 सागर	32 सागर
85.	आदित्य	31 सागर	32 सागर
86.	अर्चि	31 सागर	32 सागर
87.	अर्चिमाली	31 सागर	32 सागर
88.	वैरोचन	31 सागर	32 सागर
89.	प्रभास	31 सागर	32 सागर

परिशिष्ट - 1

90.	अर्चिप्रभ	31 सागर	32 सागर
91.	अर्चिर्मध्य	31 सागर	32 सागर
92.	अर्चिरावर्त	31 सागर	32 सागर
93.	अर्चिविशिष्ट	31 सागर	32 सागर
94.	पंच अनुत्तर	32 सागर	33 सागर
95.	विजय	32 सागर	33 सागर
96.	वैजयन्त	32 सागर	33 सागर
97.	जयन्त	32 सागर	33 सागर
98.	अपराजित	32 सागर	33 सागर
99.	सर्वार्थसिद्धि	33 सागर	33 सागर
100.	मनुष्यगति	अन्तर्मुहूर्त	3 पल्य
101.	उत्तम भोगभूमिज	3 पल्य	3 पल्य
102.	मध्यम भोगभूमिज	2 पल्य	2 पल्य
103.	जघन्य भोगभूमिज	1 पूर्व कोड़ी	1 पल्य
104.	कर्म भूमिज	अन्तर्मुहूर्त	1 पूर्व कोड़ी

परिशिष्ट - 2

क्र.	नाम	भवसंख्या
1.	पृथ्वीकायिक सूक्ष्म	6012
2.	पृथ्वीकायिक बादर	6012
3.	जलकायिक सूक्ष्म	6012
4.	जलकायिक बादर	6012
5.	अग्निकायिक सूक्ष्म	6012
6.	अग्निकायिक बादर	6012
7.	वायुकायिक सूक्ष्म	6012
8.	वायुकायिक बादर	6012
9.	साधारण वनस्पतिकायिक सूक्ष्म	6012
10.	साधारण वनस्पतिकायिक बादर	6012
11.	अप्रतिष्ठित प्रत्येक सूक्ष्म	6012
12.	द्वीन्द्रिय	80
13.	त्रीन्द्रिय	60
14.	चतुरिन्द्रिय	40
15.	असंज्ञी पंचेन्द्रिय	8
16.	संज्ञी पंचेन्द्रिय	8
17.	मनुष्य	8
	कुल	66336